1. सन्तुलित जीवन

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण सन्तुलित जीवन व्यतीत करने हेतु नियमित रूप से कर्म करने का उपदेश देते हुए कर्म करने की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर अकर्मण्यता का जीवन में त्याग करने का संदेश देते हुए कहते हैं – **नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण:।** अर्थात् मनुष्य को जीवन में नियमित रूप से शास्त्रविहित कर्म करना चाहिए । कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है। जो मनुष्य जीवन में नियमित रूप से कर्म नहीं करते है उनकी शरीर यात्रा सिद्ध नहीं हो सकती। संतुलित जीवन के लिए मनुष्य का स्वस्थ रहना आवश्यक है। स्वस्थ रहने के लिए मनुष्य को आहारादि विषयों का उचित मात्रा में सेवन करना चाहिए। अत: मनुष्य उत्तम जीवन शैली अपनाकर जीवन यापन करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर रहता है – **युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।** अर्थात् जिसका भोजन एवं घूमना फिरना उपयुक्त है जिसकी कर्मों में प्रवृत्ति उचित एवं युक्तियुक्त है। जिसका सोना एवं जागना दोनों उचित मात्रा में होते हैं ऐसे व्यक्ति का योग सिद्ध हो सकता है साथ ही वह योग मनुष्य के समस्त दु:खों का विनाश करने वाला होता है।

२. योगाभ्यास

श्रीमद्भगवद्गीता में योग के विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है, परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता के अन्यान्य योगों में आपातत: योग के मुख्यत: तीन स्वरूप स्पष्ट दिखते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में योग के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि -

"समत्वं योग उच्यते"। श्रीमद्भगवद्गीता 2/48

अर्थात् जब साधक का चित्त सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होता है, तब इस अवस्था में साधक का चित्त सुख-दु:ख,मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, शीत-उष्ण, तथा भूख-प्यास आदि द्वन्द्व में समान बना रहता है। इस अवस्था में साधक सभी पदार्थों में समान भाव रखता है। इस अवस्था के कारण उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है, सभी दु:ख समाप्त हो जाते हैं। इसी समत्त्व भाव का नाम योग है।

श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में ही योग की एक अन्य परिभाषा देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

"योग: कर्मसु कौशलम्"। श्रीमद्भगवद्गीता 2/50

इस कथन का अभिप्राय है फलासक्ति का त्याग करके कर्म करना ही कर्मकौशल है। कर्म करते हुए यदि कर्त्ता कर्म में आसक्त हो गया तो वह कर्मकौशल नहीं कहलाता है। कर्त्ता की कुशलता तो यह है कि कर्म करके उसको वहीं छोड़ दिया जाये। हानि और लाभ, जय

अथवा पराजय, कार्य-सिद्धि या असिद्धि के विषय में चिन्ता ही न की जाये। कर्म करते हुए यदि कर्त्ता उस कर्म का दास होकर रह गया तो वह कर्त्ता का अस्वातन्त्रय हुआ। कर्त्ता तो स्वतन्त्र हुआ करता है। यदि कर्म ने कर्त्ता को पराधीन कर दिया तो यह कर्म की विजय हुई कर्त्ता की नहीं। कर्त्ता का स्वातन्त्रय तो तब सिद्ध होता है जब कर्त्ता स्वेच्छया से कर्म का और उसके फल का त्याग कर देता है। अत: फलासक्ति का त्याग करके कर्म करना ही कर्मकौशल है। दुष्कृत में आसक्ति की अपेक्षा भी सुकृत में आसक्ति को छोड़ना और कठिन है। किन्तु जिसको यह अनासक्ति योग की बुद्धि प्राप्त हो गई, वह दुष्कृत को और विशालतर सुकृत में बन्धक लघुतर सुकृत को – इन दोनों को त्याग देता है। इसलिए तू इस अनासक्ति-योग की प्राप्ति के लिए जुट जा। जो लोग इस अनासक्ति योग को प्राप्त कर लेते हैं, वे जन्म के बन्धनों से घबड़ाते नहीं। विपरीत से विपरीत परिस्थितियों की दीवार को तोड़कर पार हो जाते हैं। इसी कुशलता का नाम योग है।

योग की एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिभाषा देते हुए श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- मनुष्य जीवन पर्यन्त दु:खों से संयोग बना रहता है। दु:खों के इसी संयोग का पूर्णत: वियोग हो जाना, दु:खों की सदा के लिए समाप्ति हो जाना ही योग है,

"दु:खसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।" श्रीमद्भगवद्गीता 6/23

क्योंकि जब दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है तो वे पुन: उत्पन्न नहीं होते। श्रीमद्भगवद्गीता में योग शब्द को अनेक अर्थ में प्रयोग किया गया है, परन्तु मुख्य रूप से श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग इन तीन योग मार्गों का विस्तृत रूप में वर्णन किया गया है।